आचार्य क्षेमराज रचित

पराप्रावेशिका

प्रवचनकार

प्रो० नीलकण्ठ गुरुटू

हिन्दी रूपान्तरकार

प्रो० मखनलाल कुकिलू

प्रकाशक :

ईश्वर आश्रम ट्रस्ट

निशात, श्रीनगर, कश्मीर

आचार्य क्षेमराज रचित

पराप्रावेशिका

समर्पित

सदास्मरणीय सद्गुरु

श्री ईश्वरस्वरूप

स्वामी लक्ष्मण जू महाराज

के पादकमलों में

प्रवचनकार

प्रो० नीलकण्ठ गुरुटू

हिन्दी रूपान्तरकार

प्रो० मखनलाल कुकिलू

प्रकाशक :

ईश्वर आश्रम ट्रस्ट, निशात, श्रीनगर, कश्मीर

प्रकाशक :
ईश्वर आश्रम ट्रस्ट
ईश्बर (निशात), श्रीनगर
कश्मीर

प्रशासनिक कार्यालय :
२ महेन्द्र नगर, कनाल रोड
जम्मू तवी - १८०००२.
दूरभाष : ५५५७५५

प्रथम संस्करण १९९६

मूल्य : रु. १५.००

मुद्रक :
पेरामॉउन्ट प्रिन्टोग्राफिक्स
दरियागंज, नई दिल्ली - ११०००२

दो शब्द

शैवकेसरी आचार्य अभिनवगुप्त के शिष्यों में प्रधान शिष्य आचार्य क्षेमराज अपने समय का महान् विद्वान्, टीकाकार और दार्शनिक था। यह विजयेश्वर, वर्तमान बिजबिहारा कश्मीर का निवासी था। इनका समय १०२४ ई० से १०५० ई० तक माना जाता है। आचार्य अभिनवगुप्त के शिष्यों में ये ही एकमात्र शिष्य थे जिन्हें साधना प्रक्रिया से अपनी विद्वत्ता दिखाने की अधिक लालसा थी। क्षेमराज की इस प्रवृत्ति से आचार्य अभिनवगुप्त अच्छी तरह परिचित थे इसीलिए उन्होंने तन्त्रालोक में अपने बहुत सारे शिष्यों के नामों के साथ क्षेमराज का उल्लेख नहीं किया। इनकी मौलिक रचनाओं में "पराप्रावेशिका", "प्रत्यभिज्ञा हृदय", "भैरवानुकरणस्तोत्र" आदि प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने बहुत सारे मुख्य ग्रन्थों पर टीका लिखी जिनमें "स्पन्दसन्दोह", "स्पन्द निर्णय", "शिवसूत्र विमर्शिनी", "स्वच्छन्दोद्योत", "नेत्रतन्त्रोद्योत", "शिवस्तोत्रावली", "साम्बपंचाशिका", "स्तव चिन्तामणि" आदि उल्लेखनीय हैं।

संक्षिप्त कलेवर का ग्रन्थ "पराप्रावेशिका" शैवशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए प्रारम्भिक पोथी है। इसे भली-भांति समझे बिना ऊंची कक्षा में कदम रखना दुष्कर है। शैवदर्शन के परमविद्वान् प्रो० नीलकंठ जी गुरुटू ने जिस ढ़ंग से, मातृभाषा कश्मीरी में इस पुस्तक का प्रवचन, महेन्द्रनगर 'जम्मू' स्थित 'ईश्वराश्रम ट्रस्ट' के सभाभवन में रविवासरीय पूजा पर उपस्थित सद्‌गुरु महाराज के शिष्यों व भक्तों के समक्ष किया वह सराहनीय है। स्मरण रहे कि इन्होंने सद्‌गुरु महाराज ईश्वर-स्वरूप के चरणों में बैठकर कुछेक महत्वपूर्ण शैवग्रन्थों का मनन किया, जिनमें श्रीपरात्रिंशिका प्रमुख है। श्रीपरात्रिंशिका शैवशास्त्र का निचोड़ग्रन्थ है। हिन्दी भाषा में इस ग्रन्थ का विस्तृत समीक्षात्मक अनुवाद करके इन्होंने शैवशास्त्र के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ा। इनका यह

विवरणात्मक अनुवाद पढ़कर कोई विरला ही होगा जो शैवशास्त्र की गूढ़ गुत्थियों को सुलझाने में समर्थ नहीं होगा। वास्तव में यह हिन्दी अनुवाद अनुसन्धानात्मक दृष्टिकोण की पर्यन्तभूमि है। शैवशास्त्र के ढेर सारे ग्रन्थों के उद्धरण देकर विद्वान् लेखक ने अपनी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया है। भट्टकल्लट की "स्पन्द कारिका विवृति" का भी बहुत पहले हिन्दी अनुवाद करके प्रो० गुरुटू ने कंटीले उपवन में पैर डालकर बड़े-बड़े धुरन्धर विद्वानों को आश्चर्य चकित किया था। स्वयं ईश्वरस्वरूप जी महाराज ने इस ग्रन्थ पर "दो शब्द" लिखकर आदरणीय लेखक के इस प्रयास की भूरि भूरि प्रशंसा की थी।

प्रस्तुत छोटी पुस्तिका "परा प्रावेशिका" के कश्मीरी भाषा में दिये प्रवचनों में, अबोध बालकों को अनेक प्रकार के ठोस व सरल प्रमाणों से दर्शन की बारीकियां बुद्धिगम्य शैली में उन्होंने समझायी हैं, जो वक्ता के गहरी सूझ की परिचायक है।

शैव शास्त्र के इस प्रचण्ड भास्कर के सामने मैं अपनी बुद्धि का दीप लिए कहां तक उनके गंभीर भावों को हिन्दी रूपान्तर में प्रकट कर सका हूं, इसका निर्णय पाठक गण ही करेंगे। यदि यह मेरा प्रयास सफल हुआ हो तो मैं अपने को कृतकृत्य समझूंगा।

यहां यह उल्लेख करना वांछनीय है कि इस पुस्तक का प्रकाशन पहिली बार हिन्दी अनुवाद सहित सन् १९७३ में ईश्वराश्रम निशात से हुआ था। विदुषी लेखिका सुश्री प्रभादेवी ने इसका भाषानुवाद करके सराहनीय कार्य किया था। यह पुस्तक अब अप्राप्य है इसके प्रकाशन की मांग को देखकर ईश्वराश्रम ट्रस्ट ने इसे पुनः प्रकाशित करने की अनुमति देकर महान् लोकोपकार किया। अन्त में श्री विजय कुमार कौल भी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने प्रवचनकार के इन प्रवचनों का बड़ी सावधानी से कैसेट बनाकर मूल प्रारूप तैयार किया।

प्रो० मखनलाल कुकिलू

अथ पराप्रावेशिका

"अकारः शिव इत्युक्तस्थकारः शक्तिरुच्यते"

'अ' से तात्पर्य शिवकला से है और 'थ' शक्तिकला को सूचित करता है। इन दोनों के मिलन को बताने वाला 'अथ' शब्द है। 'अथ' शब्द से पुस्तक का आरम्भ करके आचार्य क्षेमराज ने इस एक ही शब्द में अनुत्तरभाव का रहस्य प्रकट किया है। ग्रन्थ का नाम "पराप्रावेशिका" है जिसका सम्बन्ध उस युक्ति या विधि से है जो साधक को पराभाव में प्रवेश कराती है। पराभाव "प्रकाश-विमर्शभाव" अर्थात् शिव-शक्ति सामरस्य को जतलाने वाला है। प्रकाश 'शिव' का और विमर्श 'शक्ति' या इस सारे जगत् का सूचक है। इससे यह बात भी सिद्ध होती है कि 'हरिरेव जगत् जगत् एव हरिः" शिव ही जगत् है और जगत् ही शिव है। इस समरसता को ही 'पराभाव' कहते है, क्योंकि छत्तीस तत्त्वों से भिन्न कोई वस्तु इस संसार में नहीं हैं। छत्तीस तत्त्व शिव का ही विस्तार है। उससे भिन्न कुछ भी नहीं है, अतः यह उसी का स्वरूप है। इसी दशा को 'पराभाव' कहते हैं। 'पराभाव' का उल्लेख करके जगत् के व्यवहार में काम आने वाली अन्य दो अवस्थाओं "अपरा" और "परापरा" का ज्ञान प्राप्त करना भी आवश्यक है।

अपराभाव—अपराभाव वह है जहां कर्ता (Subject) और कर्म (Object) बिल्कुल अलग अलग हैं। जैसे 'अहं'- में शरीर प्राण बुद्धि आदि पूर्ण "मैं" कर्ता (Subject) है और "इदं" यह घड़ा, कलम, ऐनक पट आदि कर्म (Object) है जो कर्ता के साथ किसी भी प्रकार से सम्बद्ध नहीं है, क्योंकि 'कर्ता' 'कर्म' नहीं बन सकता और 'कर्म' 'कर्ता' नहीं। इस अपराभाव में कारण (Cause) और

कार्य (Effect) की प्रधानता रहती है। यह नियम है कि जहां जहां कारण है वहां वहां कार्य है और जहां कार्य है वहां कारण है। जो यह कार्यकारण भाव (Causation) है या जो यह प्रमाण और प्रमाण से लाई जाने वाली 'प्रमिति' है वही 'अपराभाव' है। इस अवस्था में भिन्नता या भेद का ही भाव छाया हुआ होता है। इस प्रकार जहां भेदबुद्धि अधिक है, जहां स्व (अपना) और पर (पराया) का भाव उभरा हुआ है, जहां आकार-प्रकार तथा अहं-भावना झलकती है वहां अपराभाव है।

परापराभाव--इस भाव में आधा पराभाव और आधा अपराभाव होता है। `It is diversity in the unity'. इसी को भेदाभेद दशा के नाम से भी जाना जाता है अर्थात् इसमें अपरता और परता (Multiplicity and unity) दोनों का अंश विद्यमान है। अनात्मरूप में प्रमेय वर्ग के भासमान होने से इसमें अपरता का अंश है तथा 'इदं विमर्श' के होने पर भी 'अहं विमर्श' का आवरण लिपटा रहने से इसमें परता का भी अंश है। या यूं कहा जाये कि जहां जगत का अंकुर फूट पड़ा है, कर्म (Object) सामने है पर अभी 'अहं-भाव' में ही संवलित है अर्थात् अन्दर से अलग अलग वस्तुओं का अंकुर निकला है पर इस भिन्नता से चेतना का लगाव नहीं है। यह अहं भावना हम शरीर पर करते हैं। वास्तव में देखा जाये तो आत्मभाव से हम एक ही हैं, उसमें कोई भेद नहीं है। प्राण, बुद्धि, पुर्यष्टक और शून्य से ही शरीर की भिन्नता भासमान होती है। हमारा चेतना तत्त्व तो एक ही है। किसी सभा में उपस्थित सज्जनों से यदि हम उनका परिचय पूछे तो वे अपना परिचय देते हुए वक्ता की बातें भी बखूबी सुनते हैं और प्रश्नों का समाधान भी करते हैं। क्या परिचय देते समय उनकी चेतना अलग थी और आकलन के समय

कोई दूसरी थी? पर चेतना आत्मरूप में - चित्तरूप में सदा वर्तमान थी जो उत्तर-प्रत्युत्तर के समय प्रकट हुई। जो यह चेतना है या जो यह अपने वजूद की पहिचान है, या जो यह अपने विस्तार की पहिचान है, वही शिव है। उसकी यह निर्बाध जान पहचान असंख्य जन्म जन्मान्तरों, कल्पों युगों और अनादि और अनन्त समय की है। इसी को दूसरे शब्दों में अहंस्वरूप का ज्ञान भी कहते हैं। इसी को शास्त्रों की भाषा में "संवित्" कहते हैं। यह भूत-भविष्यत् और वर्तमान कल्पना से रहित है। हर समय अनुभव रूप में रहने वाला यही शाश्वत ज्ञान है। इस शाश्वत ज्ञान को धारण करने वाला 'शिव' संवित् स्वरूप है। क्योंकि ज्ञान और उस ज्ञान को जानने वाला अलग नहीं है। यह न केवल "परास्तर" पर अपितु लौकिक स्तर पर भी लागू होता है। हमारा ज्ञान जो हम में है वह हमारे शरीर से भिन्न नहीं है यदि ऐसा होता तो साधारण वस्तु की तरह इस ज्ञान को हम अपनी जेब में रखकर इधर-उधर भटकते फिरते। एक बात स्मरणीय है कि हमारा ज्ञान पूर्णज्ञान नहीं है। वह सीमित है। इसमें सर्वज्ञता (सब कुछ जानने का भाव) नहीं है। पर शिवभाव पर ऐसा देखने को नहीं मिलता वहां सर्वज्ञता और अनादि बोध का साम्राज्य है। वही 'संवित्' (Supreme Consciousness) है। हमारा जानना 'ज्ञान' के नाम से पुकारा जाता है क्योंकि यह तो कम जानने की अवस्था है इसे पशुभाव कहते हैं। इसका कारण 'बुद्धि' है जो स्वयं जड़ है। इसे आत्मा का संपर्क साथ है अतः एक ओर से बाहिरी पदार्थवर्ग का (चीजों का) प्रतिबिम्ब (Reflection) पड़ता है तो दूसरी ओर से आत्मचेतना के प्रकाश के परिणामस्वरूप हमारे ज्ञान की सीमा सीमित बन पाती है परन्तु शिवदशा में बुद्धि के स्थान पर 'बोध' होता है जिसका विस्तार असीम और अनन्त है। इसी अवस्था

को संवित् भाव कहते हैं। यह संवित् भाव प्रकाश (शिव) का स्वभाव है अर्थात् स्व-भाव अपनी सत्ता (Existence) है। यही संवित् शक्ति परभैरव का अक्रम स्वातन्त्र्य है अर्थात् वह स्वातन्त्र्य शक्ति है जो किसी क्रम की परवशता (Dependence) से रहित है। यह प्रकाशात्मा परमेश्वर न पुरुष है और न स्त्री है। यह केवल विश्वात्मक स्तर पर ज्ञान और क्रियाशक्ति का स्पन्दन (Vibrating force) है। यही शक्ति इस सारे विश्व में सृष्टि, स्थिति, संहार, पिधान (Concealment) और अनुग्रह ये पांच कर्म विना क्रम के (without order) एक ही समय एक साथ करती है। जैसा देखने में आया है कि किसी स्थान पर दस बजे प्रातः कोई बच्चा पैदा होता है उसी समय दूसरे की मृत्यु होती है, उसी समय तीसरे की पुष्टि होती है, उसी समय कोई मूर्च्छाभाव का शिकार होता है और उसी समय कोई शक्तिपात का पात्र बन जाता है। इस प्रकार ये पञ्चकृत्य (पांच कर्म) शिव किसी क्रम (order) से अलग अलग नहीं करता है अपितु शिवभाव में ये सारे कर्म युगपत् (Simultaneously) होते रहते हैं। क्योंकि शिव (प्रकाश) अनुभव है, वह वर्तमान है। वह न भूत है न भविष्यत् है। वह संवित् भाव है। वह विश्वोत्तीर्ण (Transcendent) भी है, विश्वमय (immanent) भी है, क्योंकि आनन्द की अवस्था में रमण करने वाले के लिए विश्वमयता भी वैसी ही आनन्दपूर्ण है जैसी कि विश्वोत्तीर्णता। स्मरण रहे कि विश्वमयता का पूरा बहिष्कार करने से अखण्ड आनन्द की प्राप्ति नहीं होती अपितु विश्वमयता को और उसमें पाई जाने वाली दुःखरूपता को स्वरूप का विकास समझकर उसमें भी आनन्द और रसमयता प्राप्त करने से ही आनन्द प्राप्ति हो सकती है, क्योंकि विश्वोत्तीर्णता और विश्वमयता एक दूसरे के विना अंधूरी है।

इसीलिए कहा है–

विश्वात्मिकां तदुत्तीर्णां हृदयं परमेशितुः।
परादि शक्तिरूपेण स्फुरन्ती संविदं नुमः॥

अर्थ–**संविदं**–संवित् भाव को अर्थात् ज्ञान क्रिया के नित्यस्पन्दन स्वरूप परमशिव को, (मैं) **नुमः**–प्रणाम करता हूं, अभेद संवित् भाव में प्रवेश करता हूं, अर्थात् उसी संवित् भाव में मेरी प्रतिष्ठा हो जो **विश्वात्मिकां**–एक साथ ही विश्व में विकसित (जगद्रूप) भी है **तदुत्तीर्णां**–और उस विश्वात्मिक भाव से परे भी है। अर्थात् जब हम इस संवित् को भेददृष्टि से देखें तो यह संवित्, जिसे हम अपनी मातृभाषा कश्मीरी में "ज़ान" कहते हैं, विश्वात्मिक है। जब हम अपने में हृदयदृष्टि लासके तो यह संवित् विश्वोत्तीर्ण है।

विश्व क्या है? प्रमाता (the knower, the subject, the experient), प्रमाण (knowing, knowledge, Proof), प्रमेय (Known; object) और संकुचित जीव प्रमिति का (limited individual knowledge) अथवा कर्ताओं (Subjects) और कर्मों (Objects) या कार्य (Effects) और कारणों का (Causes) पुतला ही विश्व है। इसमें कार्य भी संवित् भाव है और कारण भी संवित् भाव है। संवित् ने ही कार्य को कार्य और कारण को कारण कहा। शरीर या बुद्धि ने इसकी जानकारी नहीं कराई। यह संवित् ही है जो किसी विशेष कारण के लिए किसी विशेष कार्य को बनाती है। यदि तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो यह संवित् न विश्वात्मिक है न विश्वोत्तीर्ण ही है। यह न अधिक है न कम है। यह संवित् संवित् ही है। हमारी विचारधारा ही इसके स्वरूप में अन्तर लाती है। भेदभाव से यदि इसे देखें तो यह विश्वात्मिका रूपवाली बनती

है और यही सद्‌गुरु की कृपा से अनुगृहीत साधकों के लिए विश्वोत्तीर्ण रूप धारण करती है। जहां अभेद दर्शन है वहां पदार्थों का निर्णय कराने वाली संवित् संवित् ही है और जहां भेद दृष्टि है वहां भी संकुचित संवित् संवित् ही है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि स्वात्मप्रथा या अपने वजूद की चेतना को ही संवित् कहते हैं। यह संवित् चाहिये भेदभाव पर हो, भेदाभेद भाव पर हो, या अभेदभाव पर हो यह एक ही है। यह संवित् **हृदयं परमेशितुः–परम ईशितुः**–सर्वश्रेष्ठ परमशिवभाव का या अभेदभाव का, **हृदयं**–हृदय है। हृदय का, **'हृदि अयोगमनं ज्ञानम्'** अर्थ करने पर इस शब्द के अर्थ की सीमा का विस्तार होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब हम किसी से वार्तालाप करते हैं तो उस समय हमारी संवित् हमसे निकलकर श्रोता (हमारी बात को सुनने वाले व्यक्ति) तक पहुंचती है। कोई अन्य व्यक्ति भी इसी समय कुछ और कहने बैठता है तो उसकी संवित् उस समय मुझ में प्रवेश करती है। जो मैं बोल रहा हूं वह भी बाहिर प्रकट हो रहा है, जो मैं सुन रहा हूं वह भी मेरे में आ रहा है। यह अन्तः स्पन्दन (Vibration) भी है और बहिः स्पन्दन भी है। इन दोनों स्पन्दनों का उत्पत्ति स्थान (Source) और विश्रान्ति स्थान (resting place) संवित् भाव ही है। इसी को शैवशास्त्रों में हृदय का नाम दिया है। "प्रत्यभिज्ञा हृदय" नामक शैवग्रन्थ में भी हृदय को **"संवित् एव हृदयम्"** कहकर इस बात की पुष्टि कर दी गई है कि संवित् ही हृदय है जो स्वयं कहने के समय बाहिर निकलती है और सुनने के समय प्रवेश करती है, किसी बाह्य शक्ति या धक्के के विना। यहां इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि संवित् को परमशिव का हृदय कहकर, परमशिव और हृदय को परस्पर भिन्न नहीं समझना चाहिए। जो परमशिव है

वही हृदय है, जो हृदय है वही परमशिव है वही संवित् है। इस प्रकार हृदय में 'हृत्' विश्वोत्तीर्णक का सूचक है और 'अय' विश्वमयता का। **परादिशक्ति रूपेण स्फुरन्ती** – विना किसी की प्रेरणा से पराशक्ति (अभेदशक्ति) परापराशक्ति (भेदाभेद शक्ति) और अपराशक्ति (भेदशक्ति) के रूपों में विकसित या स्पन्दायमान बनी हुई उसी संवित् देवी को प्रणाम करता हूं।

इहखलु परमेश्वरः प्रकाशात्मा

इह–इस शैव शास्त्र में या इस संसार में, **'खलु'**–यह निश्चित है कि **प्रकाशात्मा परमेश्वरः**–जो प्रकाशरूप या जो प्रकाशमय आत्मभाव है वही परमेश्वर है। ऐसा शैवी अर्थ करने से परमेश्वर और हममें या संसार के अन्य वस्तुओं में कोई भेद सिद्ध नहीं हो सकता है। "परमेश्वर ही प्रकाश स्वरूप है" ऐसा सर्वसामान्य अर्थ करने से परमेश्वर और प्रकाश में अभेद के स्थान पर भेद प्रतीति सुदृढ़ होगी, क्योंकि ऐसा मानने पर परमेश्वर एक और उसका गुण प्रकाश उससे भिन्न माना जायेगा। यहां प्रकाश से बिजली लैम्प का प्रकाश मोमबत्ती का प्रकाश, अग्निप्रकाश या सूर्य प्रकाश से कोई सरोकार नहीं है हालांकि ये सारे प्रकाश ही तो हैं पर ये सब जड़ प्रकाश हैं क्योंकि इन्हें स्वयं अपने प्रकाश का कोई ज्ञान नहीं है। इनके प्रकाश का ज्ञान चेतन प्रमाता को ही होता है। चेतन प्रमाता तो संवित् को छोड़ कुछ नहीं क्योंकि संवित् ने ही इन प्रकाशकों की प्रकाशमानता को चेताया है। शैवदर्शन ने अनुसार प्रकाश (Luminous consciousness) शिव या ज्ञानमयता का दूसरा नाम है। शिव अनादि बोध है। उससे कुछ छिपा नहीं। अनन्तकाल की अनन्तता के आवरण ने इसके ज्ञान को ढ़का नहीं, जिससे देश, काल, आकार, स्मृति आदि की सीमा को इसने लांघ लिया है।

प्रकाशश्च विमर्श स्वभावः

इस प्रकाशात्मा परमेश्वर शिव की सत्ता – शिव का अपना वजूद, विमर्श है जो इच्छा ज्ञान क्रियात्मक है। मतलब यह कि विमर्श (Self-consciousness or pure I consciousness of the highest Reality) प्रकाश से भिन्न नहीं और प्रकाश विमर्श से भिन्न नहीं।

विमर्शोनाम विश्वाकारेण विश्व प्रकाशेन विश्वसंहरणेन चाकृत्रिमाहम् - इति विस्फुरणम्–

इस परमशिव को ज्ञान क्रिया की स्पन्दना में ज्ञान (जानना) क्या है और क्रिया (करना) क्या है? शिवत्व का विकास करना एवं विश्व को बनाना ही आत्मभाव का विकास है। इस विश्वरचना में कोई निर्धारित नीति है। **विश्वाकारेण** पहिले विश्व का संवित् में ही आकार चिन्तन फिर, **विश्वप्रकाशेन** - विश्व का प्रकाशन अर्थात् आवश्यक निर्माण के साधनों को इकट्ठा करके विश्व रचना का विधान, **विश्व संहरणेन च** – और फिर विश्व का संहार अर्थात् इस अपने से ही विसृष्ट (Emanated) विश्व को अपने में ही संहार–समेटना। इस प्रकार परमशिव को हर समय एक साथ ही विश्वाकार, विश्वप्रकाश और विश्व संहरण के रूप में, **अकृत्रिमाहम्**–स्वाभाविक या आत्मिक अहंभाव (Original, innate pure I Consciousness or Perception of Universal I) की स्पन्दना– **'अहमेव विश्वरूपेण अवभासे'** मैं ही विश्वरूप में भासित हो रहा हूं, को विमर्श कहते हैं। इसी का दूसरा नाम 'स्वभाव' है। अतः स्वभाव रूप में अपना विस्तार सभी में देखना ही विमर्श है। इसे छोड़ अन्य किसी की प्रतीति इसमें नहीं होती। यही प्रकाश–विमर्श की स्पन्दना है। इसीलिए कहा है कि

आत्मा चैतन्य स्पन्दन है। **"चैतन्यमात्मा"**। चैतन्य क्या है? इच्छाज्ञान क्रिया रूप स्पन्दना पर स्वातन्त्र्यभाव। वही आत्मा है। खाली ज्ञान या क्रिया को आत्मा नहीं कह सकते।

यदि निर्विमर्शः स्यात् अनीश्वरो जडश्च प्रसज्येत

यदि–अगर, **निर्विमर्शः स्यात्**–प्रकाश में किसी अवस्था में विमर्श नहीं होता तो वह, **अनीश्वरः–कर्तुं** अकर्तुं अन्यथाकर्तु की शक्ति वाला नहीं होता। शक्ति के अभाव में, **जडश्च**–वह जड़ होता। जिसको न कोई विमर्शता या न कोई क्रियाशीलता होती। तो वह प्रकाश जड और अनीश्वर होता। अतः प्रकाश की पहचान विमर्श है। अथवा ऐसा भी कह सकते हैं कि यदि प्रकाशात्मा शिव कभी विमर्शहीन होते तो ईश्वर न माने जाने वाले विमर्श रहित जड़ रूप सूर्य आदि प्रकाश भी ईश्वर माने जाते। दूसरे प्रकार से हम यह कह सकते हैं कि यदि बिम्ब में विमर्श न होता तो यह प्रतिबिम्ब भी नहीं होता। अतः यह स्पष्ट है कि प्रधानता विमर्श की है। विमर्श ही शिव में प्राण है, जीवन है चैतन्य है।

एष एव च विमर्शः चित् चैतन्यं

जो यह परशिवभाव में विमर्श सिद्ध किया गया इसी विमर्श को शैव शास्त्रों में चित् कहते हैं। **चित्** ही **चैतन्य–'चैतन्यस्य भावः कर्म वा चैतन्यम्'** चैतन्य है। अर्थात् यदि हम कहेंगे कि शिव चेतन है तो वह अपनी जगह ही चेतन है। पर चैतन्य कहने से यह स्पष्ट होता है कि उसका भाव भी उसकी क्रिया (Activity) भी यही चित् है। भावार्थ यह कि शिव अपने अंगों के समान ही तीन जगतों के समेत चैतन्यपूर्ण है, जिसका रूप यही विमर्श है। इसी चैतन्य को

स्वरसोदिता परावाक्–स्वयं उदित परावाक् (परावाणी) कहते हैं। परावाक् या परावाणी शिव की वाणी को कहते हैं, जो हर समय रूप में स्फुरायमाण होती है। वही विमर्श है। हम सब कुछ वाणी या शब्दों से ही करते हैं। यदि हम अन्दर ही अन्दर मन में कुछ सोचने लगते हैं तो उस समय शब्दों की स्पन्दना होती है। शिवभूमिका पर भी इसी तरह जो स्पन्दना होती है वह स्वरसोदिता अर्थात् हर समय रूप में स्फुरायमान होती है। इसी को विमर्श कहते हैं।

इसी विमर्श को

स्वातन्त्र्यं, परमात्मनो मुख्यमैश्वर्यं, कर्तृत्वं, स्फुरता, सारः, हृदयं, स्पन्दः इत्यादि शब्दैरागमेषूद्धोष्यते

स्वातन्त्र्यं–स्वातन्त्र्य कहते हैं। जगत् भाव स्वातन्त्र्य से ही बनता है। यह सारा जगत् स्वातन्त्र्य शक्ति ही है। संवित् भाव ही स्वातन्त्र्य है। **परमात्मनो मुख्यमैश्वर्यं**–प्रकाशमय परमशिव का सबसे बड़ा ऐश्वर्य यही विमर्शशक्ति है। **कर्तृत्वं**–कर्तु अकर्तुं अन्यथा कर्तुं वा समर्थः, कुछ करने, बिगाड़ने या काया पलट करने की क्षमता को रखना भी इसी विमर्शशक्ति का माहात्म्य है। **स्फुरता**–स्फुरणस्य भावः इति स्फुरता, अर्थात् परमशिव का स्पन्दन स्वभाव भी इसी विमर्श शक्ति को कहा जाता है। **सारः**–इसी विमर्शशक्ति को परमात्मा का सार भी कहते हैं। **हृदयं**–इसी विमर्शशक्ति को विश्वप्रतिष्ठास्थान होने के कारण हृदय भी कहते हैं। परात्रिंशिका में कहा है कि–

चतुर्दशयुतं भद्रे! तिथीशान्त समन्वितम्।
तृतीयं ब्रह्म सुश्रोणि! हृदयं भैरवात्मनः॥

दे देवी! चौदहवें स्वर अर्थात् 'औ' को अपने साथ मिलाकर और तिथीश अर्थात् 'अ' के अन्तिम अर्थात् 'अः' को उसके पीछे लगाकर, वर्तमान रहने वाला तीसरा ब्रह्म अर्थात् 'ओं तत् सत्' मन्त्र में तीसरा ब्रह्म 'स' मिलाकर, स+औ+:=सौः, यही अमृतबीज शक्तिभाव की आत्मा वाले नरभाव का भैरवीय हृदय है। यही अनुत्तरीय हृदय प्रत्येक पदार्थ में स्पन्दायमान है।

स्पन्दः–इसी विमर्शशक्ति को स्पन्दना (Original motion) भी कहते हैं। **इत्यादि शब्दैः**–इन अनेक प्रकार के शब्दों से इस विमर्शशक्ति की व्याख्या की गई है। **आगमेषूद्धोष्यते**–सारा शैव शास्त्र ही विमर्शमय है, ऐसा आगमों में ढ़िंढोरा पीटा गया है। **अत एव** – इसी कारण अर्थात् विमर्शशक्ति के फलस्वरूप, **अकृत्रिमाहमिति सतत्त्वः**–स्वाभाविक अहंभावरूप या पूर्णाहन्तारूप, **स्वयं प्रकाशरूपः**–स्वयं प्रकाश रूप या अखण्ड बोध प्रकाशरूप, **परमेश्वरः**–परम–सबसे बड़ा, ईश्वर–ऐश्वर्यवान् अर्थात् कर्तुं, अकर्तुं, अन्यथाकर्तु समर्थः। **पारमेश्वर्या-शक्त्या**–अपनी ही शक्ति के द्वारा। याद रहे परमेश्वर और उनकी शक्ति दो भिन्न पदार्थ नहीं है। **शिवादि धरण्यन्तं**–जिन छत्तीस तत्त्वों में शिवतत्त्व आदि - आरंभ में है और **धरण्यन्त** - पृथिवी तत्त्व अन्त में है अर्थात् शिव तत्त्व से लेकर पृथिवी तत्त्व तक, **जगदन्तरात्मना**–सारे जगत् का स्वयं आत्मा बनकर, **स्फुरति प्रकाशते च**–हर समय स्फुरायमाण (Vibrating) और प्रकाशमान् है। अर्थात् पूर्णाहन्तास्वरूप शिव अपनी परमेश्वरी शक्ति से शिवतत्त्व से लेकर पृथिवी तत्त्व तक जगत् रूप से प्रकट होता है और विकास में आता है। **एतदेव**–यही, अर्थात् विमर्श में ही विश्वाकारिता (जगत् सृष्टि) विश्वप्रकाशनता (जगत् स्थिति)

विश्वसंहरणता (जगत् प्रलय) जो इसकी स्वतन्त्र स्पन्दना है (Independent movement), वही शिव की क्रिया शक्ति (Activity) है, वही जगत् का विमर्श है। जब जगत् का विमर्श है तभी इसकी सत्ता (Existence) है। जब बिम्ब (Reflector) है तभी प्रतिबिम्ब (reflection) है। जब बिम्ब नहीं तो प्रतिबिम्ब कहां? जब हम प्रतिबिम्ब देखते हैं तो बिम्ब की सत्ता स्वयं सिद्ध होती है। **अस्य जगतः कर्तृत्वं**–वही इसकी जगत् की कर्तृता (कर्तापन) है। **अत एव शिवप्रकाश अजडत्वं च**–जड भूमिका में नहीं है। अर्थात् इस तरह से शिव का प्रवर्तित होना ही शिव का कर्तापन और चेतनता है, या शैवी परिभाषा में शिव और शिव का जगत् रूप में प्रकाशन ही शिव की कर्तृता और कार्यता है। **जगतः कार्यत्वमपि**–जगत् का यह कार्यभाव भी अर्थात् संसार में पाया जाने वाला घट, पट आदि वस्तुओं का समूह भी, **एतदधीन प्रकाशत्वमेव**–इसी शिव प्रकाश के अधीन है जो मूल में मौलिक प्रकाश है। यदि मूल ही प्रकाशमान नहीं होता तो जगत् भी प्रकाशमान नहीं होता। जैसे बीज और वृक्ष में कोई अन्तर नहीं। एक (बीज) संहारदशा है और दूसरा (वृक्ष) विकास दशा है। इसी प्रकार शिवरूप कर्ता का यह जगत् कार्य है। इनमें भी कोई अन्तर नहीं। कर्तृत्व का विकास ही कार्य है, कार्य की बीज अवस्था ही कर्तृत्व है।

एतदेव जगत् प्रकाशरूपात् कर्तुः महेश्वरात् अभिन्नमेव–जो यह ऐसा बना हुआ जगत् है अर्थात् जो कार्य रूप में विकसित हुआ है वह प्रकाश रूप कर्ता महेश्वर से अभिन्न ही है।

भिन्नवेद्यत्वे अप्रकाशमानत्वेन प्रकाशन अयोगात् न किञ्चित् स्यात्–

यदि प्रकाशमय परमेश्वर से इस संसार को अलग थलग और सम्बन्धहीन माना जाता तो यह संसार अप्रकाशित होके कुछ भी न रहता अर्थात् इसका अस्तित्व ही कहीं न होता, क्योंकि वेद्य पदार्थ सदा प्रकाश के साथ सम्बन्धित है। प्रकाश के अभाव में कुछ भी न होता।

आचार्य अभिनवगुप्त ने परमार्थसार नामक शैव ग्रन्थ में लिखा है कि–

तद् ब्रह्म परं शुद्धं, शान्तमभेदात्मकं समं सकलम्।
अमृतं सत्यं शक्तौ, विश्राम्यति भास्वरूपायाम्॥

अभेद रूप, सदा समान, जगत स्वरूप अमृतबीज 'स' सद्रूप ब्रह्म की विश्रान्ति यदि शक्तिरूपता (त्रिशूलबीज औ) पर नहीं होती तो कुछ भी नहीं होता। अर्थात् 'स' बीज 'औ' बीज पर, और 'स' और औ' ये दोनों विसर्ग पर आधारित है। यह सारा छत्तीस तत्वों का जगत् इसी अमृत बीज का परिणाम है। इसके अभाव में दृश्यमान जगत् का भी अस्तित्व नहीं होता।

अनेन च जगता अस्य भगवतः प्रकाशात्मकं रूपं न कदाचित् तिरोधीयते–

ऐसे कर्तृरूप और कार्य रूप जगत् से, **अस्य भगवतः**–इस परमेश्वर का, **प्रकाशात्मकं रूपं**–प्रकाशमयरूप, **न कदाचित्**–कभी नहीं, **तिरोधीयते**–छिप सकता। अर्थात् यह जगत् भी दिखाई देता है यह शिव भी दिखाई देता है, दर्पण नगर न्याय की तरह। दर्पण में जिस तरह अनेक प्रतिबिम्ब पड़ते हैं पर दर्पण दर्पण ही है और प्रतिबिम्ब प्रतिबिम्ब ही है। इसी तरह मूल बिम्ब परमेश्वर के प्रकाश से ही जगत् स्थिति प्राप्त करता है, प्रकाशमान लगता है। जगत् का

कोई स्वयं प्रकाश ही नहीं है तो यह उस मूल प्रकाश को कैसे ओझल कर सकता है। **एतत् प्रकाशेन प्रतिष्ठां लब्ध्वा**–इस मूलभूत प्रकाश से ही अपनी सत्ता प्राप्त करके, **प्रकाशमानं इदं जगत्**–प्रकाशित हो रहा यह संसार, **आत्मनः प्राणभूतं**–अपने जीवनाधार उस मूल प्रकाश को, **कथं**–कैसे, **निरोद्धुं शक्नुयात्**–ओझल कर सकता है, **कथंच**–और कैसे, **तन्निरुध्य**–उसका निराकारण करके, **स्वयं अवतिष्ठेत**–स्वयं ठहर सकता है। अर्थात् उस मूल प्रकाश की सत्ता न मानकर कैसे अपने अस्तित्व का दावा कर सकता है।

अतश्च–इस कारण, **अस्य वस्तुनः**–इस शिवरूप प्रकाश को, **साधकं इदं बाधकं इदं प्रमाणम्**–यह साधक (सिद्ध करने वाला) यह बाधक (खण्डन करने वाला) प्रमाण है, **इति अनुसन्धानात्मक साधक बाधक प्रमातृ रूप तया**–इस प्रकार अनुसन्धान रूप साधक और बाधक व्यक्ति रूप शिव के द्वारा ही, **चास्य सद्भावः**–इस शिव की सत्ता है। अर्थात् आस्तिक और नास्तिक की विमर्श सत्ता से सिद्ध या असिद्ध करने से पहिले ही वह परमशिव स्वयं सिद्ध है। अर्थात् प्रमातृरूप चैतन्य ही यह अनुसन्धान करता है कि यह साधक प्रमाण है और यह बाधक प्रमाण है। जब हम स्वात्मसत्ता से ऊपर उठकर विश्वसत्ता की ओर देखें तो इस विश्वसाधकता और बाधकता का अनुसन्धान करने वाला परप्रकाश शिव को छोड़कर अन्य कोई नहीं। जो यह अनुसन्धान रूप साधकता और बाधकता, जो यह प्रमातृ रूपता है, वह इसी शिव प्रकाश में है। जब यह प्रकाशमानता है तो फिर इसका सद्भाव है ही।

तत्सद्भावे किं प्रमाणम् ? इस शिव के सद्भाव-अस्तित्व

(existence) पर क्या प्रमाण है ? **इति वस्तु सदभावमनुमन्यतां** - प्रकाशमान तो सदा प्रकाशमान है उसकी अप्रकाशमानता पर किसे सन्देह है ? अतः ऐसे प्रमातृस्वरूप शिव का आप स्वयं ही अनुभव करें।

तादृक् स्वभावे किं प्रमाणम् ? उस प्रकार के स्वरूप में (**स्वभावे**) क्या प्रमाण है?

इति प्रष्टृरूपतयाच - प्रश्न करने वाली की यह शंका तो बेतुकी है क्योंकि, **पूर्वसिद्धस्य महेश्वरस्य स्वयं प्रकाशत्वं सर्वस्य** - जो प्रश्न करने वाला है, वह स्वयं (खुद) चैतन्य (full of universal consciousness) है। वह स्वयं यह प्रश्न करता है कि क्या मैं चैतन्य हूँ। इस प्रकार इस प्रश्न करने वाले में महेश्वरभाव (चैतन्य) पहिले से ही सिद्ध है, **स्व संवेदनसिद्धम्** - अपनी ही चेतना से सिद्ध है अर्थात् उसमें जो खाने पीने का भाव, बोलने फिरने का भाव, किसी बात को सिद्ध करने का भाव है वह सब कुछ अपनी ही चेतना का परिणाम है।

किंच - पर इस प्रमाण के साथ एक और बात है **प्रमाणं अपि यं आश्रित्य प्रमाणं भवति तस्य प्रमाणस्य** - प्रमाण चाहिये साधक प्रमाण हो या बाधक प्रमाण, अर्थात् प्रमाण (अनुमान आदि दृष्टान्त) जिस प्रमातृरूप प्रमाण के आधार पर प्रमाण बनता है तो इसी रूप में किसी पूर्ववर्ती तत्त्व का आश्रय पाकर अपनी सत्ता (existence) निर्धारित (निश्चित) करके साधक प्रमाण या बाधक प्रमाण होने का निर्णय करता है। यह निर्णय किसी की वाणी या शब्दों से प्रकट न होने वाला स्वानुभवस्वयं सिद्ध है अर्थात् अपने ही अनुभव से सिद्ध है। वह तत्त्व जो प्रमाण को अपनी प्रमाणता की जानकारी कराता है, तथा स्वयं प्रमाण भी जिस शक्ति का सहारा

लिये हुए है, वही सब से बड़ा प्रमाण है।

तदधीन शरीर प्राणनीलसुखादि वेद्यं – जिसके अधीन शरीर प्राणनील घट पटादि स्थूल रूप में पाये जाने वाले बाहरी पदार्थ तथा सुखदुःख आदि अन्तःकरण गम्य (जानने योग्य) प्रमेय पदार्थ हैं, पर वह स्वयं इनके अधीन नहीं है अपितु वह शरीर प्राण नील सुखादि से, **अतिशय्य** – बहुत ऊपर अर्थात् बहुत बड़ी पदवी पर विराजमान केवल प्रकाशमय मूर्ति है और सदा **वेदकैकरूपस्य** – वेदक (the subject) (प्रमातृ) रूप ही है, प्रमेय पदवी पर (object of knowledge) कभी नहीं उतरा है। **सर्वप्रमितिभाजः** – और सारी ज्ञानरूपता को शाश्वतरूप में (eternally) सदा धारण करने वाला है।

सिद्धौ – अतः इस प्रमाण को सिद्ध करने के लिए, **अभिनवार्थप्रकाशस्य प्रमाण वराकस्य कश्च उपयोगः** - किसी नये अर्थ को प्रकाशित करने वाले बिचारे प्रमाण का प्रयोग या प्रयोजन ही क्या है। सारांश यह है कि प्रमाणों से चित् तत्त्व की सिद्धि नहीं होती क्योंकि वह स्वयं सिद्ध है, वह संवेदन रूप में ही है। जो आत्मा जड़ नहीं, चेतन है, सब कुछ करता है, वह अपने आपको क्या सिद्ध करेगा।

एवंच शब्दराशिमय पूर्णाहन्ता परामर्श सारत्वात् -

एवंच - इस तरह उपरोक्त सिद्धान्त के सिद्ध होने पर, **शब्दराशिमय** - 'अ' से 'क्ष' तक स्वर और व्यञ्जनों का समूह,

पूर्णाहन्ता - पूर्ण अहन्ता रूप है अर्थात् जहां सारा विश्वभाव अपने स्वरूप में है।

परामर्श सारत्वात् - उस पूर्ण रूप में विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण प्रपंच को अहंरूप में परामर्श करना ही सारभूत होने से, **परमशिव**

एव षट्त्रिंशत्तत्वात्मकः प्रपञ्चः –

३६ तत्त्वों के स्वरूप से जगत् रूपता के विस्तार को प्राप्त हुआ, परमशिव ही है।

षट् त्रिंशत्तत्त्वानिच – शिव तत्त्व से लेकर पृथिवी तत्त्व तक छत्तीस तत्त्वों के नाम इस प्रकार हैं। ये छत्तीस तत्त्व यहां अवरोह क्रम से दिये हैं जबकि कई अन्य शैव रहस्य ग्रन्थों में पृथिवी तत्त्व आरम्भ में है और शिव तत्त्व अन्त में है। ऐसा क्रम आरोह क्रम से प्रसिद्ध है। साधारण रूप से तत्त्वज्ञान कराने के लिए श्री क्षेमराज ने इस पुस्तक में आरोहक्रम न अपनाकर अवरोहक्रम को ही मान्यता दी है। ये छत्तीस तत्त्व इस प्रकार हैं –

(१) शिव (२) शक्ति

(३) सदाशिव (४) ईश्वर (५) शुद्धविद्या

(६) माया (७) कला (८) विद्या (९) राग

(१०) काल (११) नियति

(१२) पुरुष (१३) प्रकृति

(१४) बुद्धि (१५) अहंकार (१६) मन

(१७) श्रोत्र (कान) (१८) त्वचा (Skin) **(१९) चक्षु (आंख)**

(२०) जिह्वा (जीभ) (२१) घ्राण (नाक)

(२२) वाक् (वाणी) (२३) पाणि (हाथ) (२४) पाद (पैर)

(२५) पायु (मलद्वार) (२६) उपस्थ (जननेन्द्रिय)

(२७) शब्द (२८) स्पर्श (२९) रूप (३०) रस (३१) गन्ध।

(३२) आकाश (३३) वायु (३४) वह्नि (तेज-अग्नि)

(३५) सलिल (जल) और भूमि (पृथिवी)

अथ एषां लक्षणानि - अब इन छत्तीस तत्त्वों के लक्षण अलग अलग दिये जा रहे हैं।

शिवतत्त्व = तत्र शिवतत्त्वं नाम इच्छा ज्ञान क्रियात्मक केवल- पूर्णानन्दस्वभावरूपः परमशिव एव - इन छत्तीस तत्त्वों में से केवल पूर्णानन्दस्वभाववाला अर्थात् चिदानन्दमय, निश्चय से इच्छा ज्ञान और क्रिया शक्ति स्वरूप परमशिव ही शिवतत्त्व कहलाता है। स्मरण रहे कि 'परमशिव' और 'शिव में यह अन्तर है कि परमशिव तत्त्व कल्पना से परे है जबकि शिव छत्तीस तत्त्वों के अन्तर्गत है।

परमशिवता में सभी शक्तियों की समरसता है। वहां न इच्छा शक्ति है, न ज्ञानशक्ति है न क्रिया शक्ति है। वहां पृथक् समानता नहीं है। वह सम्पूर्णतया केवल शिवरूप ही है। पर शिव तत्त्व छत्तीस तत्त्वों के अन्तर्गत है। इस में इच्छा ज्ञान और क्रिया शक्ति की अलग अलग कल्पना है।

शक्ति तत्त्व = अस्य जगत् स्त्रष्टुं इच्छां परिगृहीतवतः परमेश्वरस्य प्रथम स्पन्द एवेच्छा शक्ति तत्त्वम् = परमशिव की इच्छा का नाम ही "शक्ति" है। यह इच्छा शक्ति जगत् रूप में इसके अपने स्वरूप का ही विस्तार है। यही (शक्ति तत्त्व) जगत् की सृष्टि करता है। इस इच्छा को परम शिव ने अपने आप में स्वयं ही स्वीकारा है। परम शिव की यही बाह्य स्पन्दायमानता (Throbbing) जो सर्व प्रथम रूप में प्रकट हुइ वही शक्ति तत्त्व के नाम से जानी जाती है।

सदाशिवतत्त्वम् = अप्रतिहतेच्छत्वात् सदेवाङ्कुराय-माणम् इदं जगत् स्वात्मना अहन्तया आच्छाद्य स्थितं रूपं सदाशिवतत्त्वम् - सदाशिवतत्त्व तीसरा तत्त्व है। **अप्रतिहतेच्छत्वात्** = इस परमेश्वर की जो इच्छाशक्ति है वह अप्रतिहत है उसे कोई रोक नहीं सकता है। यहां यह उल्लेख करने योग्य है कि संसार में बीज अवस्था, अंकुरायमाण अवस्था और अङ्कुरित अवस्था के रूप में तीन अवस्थायें दृष्टिगोचर होती है। पहिली अवस्था जो बीज अवस्था है वह एक ठोस अवस्था है, इसमें अंकुर अवस्था का नामोनिशान नहीं। यह केवल बीजरूप ही है। जब इस बीज को मिट्टी में डाला जाता है तो कुछ ही समय के पश्चात् इसमें मोटापन सा आने लगता है। यह अवस्था अङ्कुरायमाण अवस्था कही जाती है। यहां अङ्कुर अभी निकला नहीं पर अङ्कुर निकलने की प्रवृत्ति है। जब कुछ दिनों के अनन्तर अंकुर फूटने लगता है तो यह अवस्था अङ्कुरित अवस्था कही जाती है। इसी प्रकार परमशिव बीजावस्था है क्योंकि बीज की तरह इसमें सब कुछ विद्यमान है।

सदेव = यह छत्तीस तत्त्वों वाला जगत् जो पहिले से ही परमशिव में विद्यमान है, नये सिरे से उत्पन्न नही करना है, जब **अङ्कुरायमाणं इदं जगत्** = अंकुरायमाण यह संसार **बाह्यमुखीन स्पन्दायमानता** अर्थात् बाहिर की ओर आनेवाली स्पन्दनशीलता की (throbbing) प्रवृत्ति (tendency) से प्रभावित होगा तो यह अंकुरायमाण अवस्था की कंपकंपी को प्राप्त करेगा। एवं अंकुरायमाण यह संसार **स्वात्मनाहन्तयाच्छाद्य** = जब स्वरूप सम्बन्धी पूर्ण अहंभाव से ढका हुआ हो, **स्थितं रूपं सदा शिव तत्त्वम्** = तो उसे "सदाशिव तत्त्व" कहते हैं। इस बात को दोहराने की आवश्यकता नहीं कि सदाशिव तत्त्व से ही बाहिरी रूप सत्ता आरंभ

होती है। भगवान् को भी सदाशिव इसीलिए कहते हैं कि जगत् की बाहिरी रूप में अंकुरित होने की सत्ता इसी "सादाख्य तत्त्व" से आरंभ होती है। क्योंकि जो जगत् परमशिव में है ही, कोई नया उपक्रम नहीं, वही जगत् अंकुरायमाण हो जाता है।

ईश्वर तत्त्व = अङ्कुरितं जगत् – जब 'इदंभाव' पूरी तरह से अंकुरित हुआ, (जैसे बीज से अंकुर फूटता है।) **अहन्तया आवृत्य स्थितं,** तो अपनी ही अहन्ता से लिपटा हुआ यह जगत्, **ईश्वरतत्त्वम्** – ईश्वरतत्त्व कहलाता है अर्थात् इस अहंभाव की अवस्था को ईश्वर तत्त्व कहते हैं।

शुद्धविद्यातत्त्व = अब 'अहंभाव' और 'इदंभाव' दोनों अंकुरित हुए हैं पर जहां **अहन्तेदन्तयोः ऐक्य प्रतिपत्तिः** – 'अहंभाव' और 'इदंभाव' दोनों बराबर हो अर्थात् जितनी अहन्ता है उतनी ही 'इदन्ता' भी है जो यह ऐक्य प्रतिपत्तिः (To be at par stage. The consciousness of both 'I' and 'this' is equally prominent'. there is identity in diversity at this stage) है उस आत्मभाव के तत्त्व का नाम, शुद्ध विद्या है। द्वैतप्रथा (अलग अलग भेदरूप में भासित होना) को जन्म देने वाली 'माया' की पहुच से परे या शुद्ध रहने के कारण ही इस तत्त्व को 'शुद्ध विद्या' कहते है। इसीलिए 'शिवतत्त्व' से लेकर 'शुद्धषिद्या' तक के पांच तत्त्वों को अर्थात् शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या, तत्त्वों को "शुद्धाध्वा" (the pure path; supra mundane manifestation) कहते हैं क्योंकि माया के अशुद्ध प्रभाव से ये दूर हैं। माया तत्त्व से लेकर पृथिवी तत्त्व तक जो इक्कतीस तत्त्व हैं उन्हें 'अशुद्धाध्वा' (mundane manifestation) कहते हैं क्योंकि ये माया के अशुद्ध प्रभाव से प्रभावित हैं।

माया = स्वस्वरूपेषु भावेषु भेदप्रथा माया – जहां आत्मा और प्रमेय जगत् (the entire objective sphere) में भेद अवभासित होवे या भेदबुद्धि (perception of differentiation) पैदा हो जाये वही माया है। माया पहले भेदप्रथा को जन्म देती है फिर वास्तविक आत्मरूप का आवरण करती है, उसको छुपाती है, अनात्मा पर आत्म अभिमान करवाती है और आत्मा पर अनात्म अभिमान, वास्तव में यह परमशिव की स्वातन्त्र्य शक्ति (the absolute will power of the supreme) ही है। परमशिव (the highest reality; the absolute) माया तत्त्व के रूप में इस स्वातन्त्र्यशक्ति का प्रयोग करके अपने ही स्वरूप को स्वयं द्वैत (duality) का विषय (object) बनाता है और स्वयं आवरण (cover) भी करता है। अतः 'माया' कहने से हमें डरना नहीं चाहिए यह भगवान् शिव की ही क्रीडा है।

पुरुषतत्त्व = यदा तु परमेश्वरः – जिस समय परमशिव, **पारमेश्वर्या** – अपने से अभिन्न रहने वाली, **मायाशक्त्या** – अपनी ही स्वातन्त्र्य शक्ति से **स्वयंस्वरूपं** – अपने स्वरूप को, **गूहयित्वा** – छुपाकर अर्थात् द्वैतप्रथा में डालकर स्वयं आवरण करवाके, **संकुचित ग्राहकतां** – संकुचित प्रमातृभाव को (phenominal experiencerhood), **अश्नुते** – व्याप्त करता है तो इसी शिव का नाम, **पुरुष संज्ञा** – पुरुष दिया जाता है। अर्थात् पांच भौतिक काया में जो चेतना तत्त्व है वही पुरुष है। पुरुष से तात्पर्य मर्द या स्त्री से तात्पर्य औरत नही। यह सारा चेतनाभाव है। इसी चेतना तत्त्व के साथ माया का सम्बन्ध है। इस पुरुष शब्द की निरुक्ति इस प्रकार है - 'पुरिशेते' 'पुरि' अर्थात् जो इस काया रूपी बन्धन में – इन छः कंचुकों (आवरणों) के ढांचे में, **शेते** – विवश पड़ा है, उस विवश

बने हुए व्यक्ति (Individual Self) को पुरुष कहते हैं। ये छः आवरण या कंचुक (coverings) इस प्रकार हैं –

(१) माया (२) कला (३) विद्या
(४) राग (५) काल (६) नियति।

अयं एव मायामोहितः – माया, कला आदि तत्त्वों से मोहित बना हुआ, अपने ही कर्मों से जालकार (spider) की तरह **कर्मबन्धनः** - जन्ममरण के चक्र में बंधा हुआ यह पुरुष ही, **संसारी** – (संसरति इति संसारी अर्थात् यह किसी जगह बैठता नहीं, इधर-उधर आता जाता है, मरता है पैदा होता है, फिर मरता है फिर पैदा होता है) कहा जाता है। **परमेश्वरात् अभिन्नोऽपि अस्य मोहः** – यद्यपि यह पुरुष मोह में भी फंसा हुआ है फिर भी यह परमेश्वर से भिन्न नही हैं। यह स्वयं शिव ही है। जिस मोह में यह फंसा हुआ है वह मोह भी परमेश्वर से भिन्न नहीं है, **परमेश्वरस्य नभवेत्** – क्योंकि परमेश्वर के वास्तविक शिवरूप पर माया की पहुंच नहीं है। **इन्द्रजालमिव ऐन्द्रजालिकस्य स्वेच्छया सम्पादित भ्रान्तेः** – इव - जैसे ऐन्द्रजालिकस्य - जादूगरी करने वाले जादूगर को, इन्द्रजालं – अपना जादू, स्वेच्छया – अपनी इच्छा शक्ति से, सम्पादित – बनाने के कारण, भ्रान्तेः – भ्रमित नहीं करता। अर्थात् जादूगर जब किसी वस्तु को जादू के प्रभाव से दर्शकों के सामने प्रकट करता है तो दर्शक उस वस्तु की सच्चाई में जरा भी संशय नहीं करते हैं पर जादूगर को स्वयं उस वस्तु की असलियत का पूरा ज्ञान होता है। उसे वह भ्रमित नहीं कर सकती। अर्थात् यदि जादूगर मिट्टी को फूल बनाता है तो दर्शकों को फूल की वास्तविकता पर कुछ भी सन्देह नहीं होता है, पर जादूगर इस बात से स्वयं परिचित है कि यह फूल नहीं अपितु मिट्टी ही है। इसी तरह शिव का ही

प्रपंचरूप पुरुष इत्यादि बाह्यरूप में सबों को यथार्थ लगता है पर स्वयं शिव को इस प्रपंच की उथल-पुथल से कोई सरोकार नहीं। क्योंकि उसे इसकी असलियत का पूरा ज्ञान है।

विद्याभिज्ञापितैश्वर्यस्तु चिद्घनः मुक्तः परमशिवएव – **विद्या अभिज्ञापित ऐश्वर्यःतु** – अतएव महामन्त्रमयी विद्या हृदयबीज (सौः बीज) के साक्षात्कार के कारण स्वरूप लाभरूप ऐश्वर्य से पूर्ण बना हुआ यह जीव, **चित्घनः** – चित्घन (mass of consciousness) और, **मुक्तः** – मुक्त (liberated) **परमशिव एव** – परमशिव (the highest reality) ही है।

स्मरण रहे कि शैवदर्शन में मुक्ति प्राप्त करना एक स्थान से दूसरे स्थान पर संक्रमण करके उस पार होना नहीं है अपितु **'सकृत् विभातोऽयं आत्मा'** ही मुक्ति है। मुक्ति के लिए विशेष स्थान विशेष देश या विशेष आकार की अपेक्षा नहीं है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि शिवतत्त्व से लेकर शुद्धविद्या तक जो पांच तत्त्व हैं उनमें अहंभाव या 'अहं-इदं' का ही उतार चढ़ाव है। यहां यह उल्लेखनीय है कि शैवशास्त्रों की परिभाषा के अनुसार - अहं का अर्थ "मैं" और "इदं" का अर्थ "यह" अभिप्रेत नहीं। अपितु 'अहं' से तात्पर्य स्वाभाविकरूप आत्मचेतना (Divine Experient) है। कोई हर समय "मैं चेतन हूँ" का जप नहीं करता, अपितु 'अहं' यह उसका स्वभाव है। अतः तत्त्व परिकल्पना में 'अहं' का 'मैं हूँ' ऐसा अर्थ नहीं किया जाता। यदि ऐसा होता तो पीडा आदि अवस्थाओं में आत्मचेतना स्वभाव न होके कृत्रिम बन पाती। अतः जहां शक्तियों का संकल्प नहीं, जहां इच्छा, ज्ञान और क्रिया की समरसता हो, जहां आत्मभाव में सब शान्त हो और जहां भेद या द्वैत का वजूद ही न हो वही शिवभाव है। शिव और शक्ति

में कोई अन्तर नहीं। "सदाशिव" भाव में बाह्यरूप से जगत् का विकास होता है पर यह एकाएक नहीं है अपितु यह क्रमिक विकास है। इसमें जगत् अंकुरायमाण अवस्था में है पर अभी अंकुरित नही हुआ है। यहां यह स्वरूप से अलग हुआ लगता है। यही "इदंभाव" है। इसको आत्मा ने यह (This) का नाम दिया है। आत्मभाव को (अहं) की चेतना है। संस्कृत भाषा के व्याकरण के अनुसार प्रथमा विभक्ति (Nominative form) निर्देश करने में मुख्य होती है। जैसे 'अहं - इदं' में 'अहं' की प्रधानता है क्योंकि 'अहं' पहले आया है, 'इदं' इसका अनुवाद है, "अहं इदं" को उल्टा करने में 'इदं' से जगत् की प्रधानता आयेगी पर 'अहं' से तात्पर्य 'अहंभाव' ही होगा। 'सदाशिव तत्त्व' में भी आत्मभाव की वह अवस्था है जहां "अहं इदं" (I am this) इसका विमर्श है। पर ईश्वरतत्त्व में 'इदं अहं' (This am I) का विमर्श है यहां इदं की प्रधानता है और 'अहं' से तात्पर्य आत्मचेतना है। 'इदं' उसी का विकास और स्वरूप-प्रसार आदि है। जहां आत्मा की विमर्श दशा हो (i.e. the consciousness of both 'I' (the experient) and 'this' (the universe) is distinct and where diversity begins, though there is unity in diversity at this stage) वह शुद्ध विद्यातत्त्व है। एवं यहां तक सारा शिवभाव ही है।

अस्य – इस परमशिव की **सर्वकतृत्वं** – सर्वकर्तृता (omnipotence) **सर्वज्ञत्वं** – सर्वज्ञता अर्थात् सब कुछ जानने का भाव (omniscience) **पूर्णत्वं पूर्णता** (perfection) **नित्यत्वं** – नित्यता (eternity) **व्यापकत्वं** – व्यापकता (all pervasiveness) नामक **शक्तयः** – शक्तियां (energies) जिनके शास्त्रीय नाम चित् शक्ति, निर्वृत्ति शक्ति (आनन्दशक्ति), इच्छाशक्ति,

ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति है, यद्यपि **असंकुचितापि** – असंकुचित है तथापि, **संकोचग्रहणेन** – अपनी ही इच्छा से संकोच को अपनाने पर क्रम से **कला** (limited authorship or efficacy), **विद्या** (limitation in respect of knowledge), **राग** (limitation in respect of desire), **काल** (limitation in respect of time), **नियति** (limitation in respect of space and cause) **रूपतयाभवन्ति** – इन पांच तत्त्वों के रूप में पुरुष को घेरती हैं। परन्तु शिवभूमिका पर शिव इनका अधिपति और शक्तियां अधीन हैं सांसारिक भूमिका पर इसका विपर्यय पाया जाता है। वहां ये शक्तियां हमारी नुक्कड़ में रस्सी बांधकर हमें अपने पीछे पीछे चलाती हैं, आदेश देती हैं, और सारा व्यवहार कराती हैं। इसी को संकोच ग्रहण कहते हैं।

कला – अत्र – इनमें से, **कलानाम** - कला नामक तत्त्व, **अस्य पुरुषस्य** - इस पुरुष को, **किञ्चित्कर्तृता हेतुः** – नियमित कार्य कराने का कारण है। इससे पुरुष में इस बात का आभास होता है कि इसे सीमित कलाओं का ज्ञान है। वह सारी कलायें जानता नहीं। जैसे किसी ने संगीत कला की विद्वत्ता प्राप्त की, किसी ने लेखन कला की और किसी ने रंगमंच कला की निपुणता प्राप्त की है पर वह अनन्त कलाओं का ज्ञाता नहीं।

विद्या – विद्या किंचित् ज्ञत्व कारणम् – **विद्या** – ज्ञान। मैं इतना ही जानता हूँ इससे अधिक नहीं। **किंचित्** – थोड़ा, **ज्ञत्व** – जानने वाले भाव को ही विद्या कहते हैं। यह विद्या तत्त्व पुरुष में इस संकल्प को जन्म देता है कि इसे इस या उस विशेष विद्या का सीमित ज्ञान है। वह सब कुछ जानने वाला नहीं है।

राग – रागो विषयेषु अभिष्वङ्गः – विषयेषु – विषयों में, **अभिष्वङ्गः** – आसक्त (attached) होना ही, **रागः** – राग है। विषय पांच हैं – **शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध**। इनमें से किसी खास विषय के साथ लगाव रखना ही **'अभिष्वङ्ग'** कहलाता है। इस तत्त्व में तृप्ति का अभाव होता है।

काल – कालो हि भावानां भासनाभासनात्मकानां क्रमोऽवच्छेदको भूतादिः। भावानां – घट पट आदि पदार्थ, जड़ पदार्थ या चेतन पदार्थ वर्ग को भाव कहते है। इन्हें इसीलिए भाव कहते हैं क्योंकि इनकी सत्ता (existence) है ये प्रत्यक्ष हैं (प्रायः भाव दो प्रकार के हैं आभ्यन्तरभाव और बाह्यभाव। आभ्यन्तर भाव सुख दुःखादि हैं। बाह्यभाव नील पीत आदि हैं जो भौतिक इन्द्रिय ग्राह्य हैं। एक अन्तर्निहित है दूसरा प्रकाशमान है। या एक वेद्य है दूसरा भासमान है) इन **भासन** – भासित अर्थात् दिखाई देने वाले, **अभासनात्मकानां** - न दिखाई देने वाले पदार्थों के, **क्रमः** – क्रम का, **अवच्छेदकः** – अलगाव करने वाले, **भूतादिः** – भूत (past) वर्तमान (present) और भविष्यत् (future) को **कालः** – काल कहते हैं। इस काल क्रम से सम्बद्ध पुरुष ही है। शिव तो काल क्रम से परे है। उसे समय के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। अतः वहां भूतादि काल की कल्पना नहीं।

नियतिः – ममेदं कर्तव्यम् नेदं कर्तव्यम् इति नियमन हेतुः। ममेदं कर्तव्यं – मुझे यह काम करना है, **नेदं कर्तव्यं** यह काम नहीं ऐसे नियमों के हेतु को **नियति** कहते हैं। अर्थात् मैं उस विशेष स्थान का रहने वाला हूँ, मैं सर्वस्थान वासी नहीं हूँ। मैं ईश्वराश्रम निशात में रहता हूँ मैं उसी समय दिल्ली में भी रह नहीं सकता हूँ। पुरुष में इस प्रकार का संकोच लाने वाला तत्त्व

नियतितत्व कहलाता है।

एतत् पंचकमस्य स्वरूपावरकत्वात् कंचुकमिति उच्यते। एतत्पंचकं – ये कला, विद्या, राग, काल और नियति नामक पांच तत्त्व, **स्वरूपावरकत्वात्** – जीव को जंजीरों से जकड़ने के कारण आवरण, या **कंचुक** (coverings) **उच्यते** – कहे जाते हैं।

अब इससे नीचे का संसार प्राकृतिक अर्थात् प्रकृति में परिणामता से आया हुआ संसार है।

प्रकृतिः -- महदादि पृथिव्यन्तानां तत्त्वानां मूलकारणं प्रकृतिः – महत् आदि – महत् तत्त्व से आरंभ करके (महत् तत्त्व बुद्धि तत्त्व को कहते हैं) **पृथिव्यन्तानां तत्त्वानां** – पृथिवी तत्त्व तक जो तत्त्व हैं, उनका, **मूलकारणं** – उत्पत्ति हेतु, प्रकृति ही है।

यहां यह ध्यान देने योग्य बात है कि प्रत्येक पदार्थ का सामान्य रूप और विशेष रूप होता है। सामान्य रूप में ही प्रत्येक पदार्थ की सत्ता है, विशेष रूप में नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि किसी घट की पहिचान किसी विशेष रूप से होती, तो उस विशेष रूप वाले घट के न रहने पर घट की सत्ता का अभाव होता। पर ऐसी बात नहीं। क्योंकि सामान्य रूप में ही हर एक पदार्थ की सत्ता (existence) स्थिर होती है। जैसे घडे के रूप से परिचित, किसी भी स्थान का रहने वाला, कोई भी व्यक्ति, घड़े को देखकर, घड़े के नाम से ही इसे पुकारेगा। क्योंकि मूलरूप में जो घट तत्त्व है उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं आता है। **एषाच सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था अविभक्त रूपा** – इसी तरह सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण का रूप आपस में इस तरह जुड़ा हुआ है कि कोई गुण अलग अलग दिखाई नहीं देता। इसी साम्यावस्था को प्रकृति कहते

साम्यावस्था का अर्थ है कि मूलप्रकृति, सतोगुण रजोगुण और तमोगुण जहां अलग अलग विकास में नहीं आये हैं। अतः इनकी भिन्नता न होने से इनमें खिंचाव (agitation) भी नहीं है। थोड़ी सी असमानता के आने पर ही तो खींचातानी शुरू होगी। स्मरण रहे कि शिव की ज्ञानशक्ति हमारे लिए सतोगुण है क्रियाशक्ति रजोगुण है और महामाया शक्ति तमोगुण है।

बुद्धिः – निश्चयकारिणी विकल्प प्रतिबिम्बधारिणी बुद्धिः – पदार्थ को पदार्थ रूप में निश्चय कराने वाली और विकल्पों के प्रतिबिम्बों को धारण करने वाली बुद्धि है। बुद्धि निर्मल है। इसमें दो प्रतिबिम्ब पडते हैं। एक अन्दर से चित्तस्वरूपता का प्रतिबिम्ब, दूसरा सारे पदार्थों का प्रतिबिम्बित होना। शैवदर्शन के अनुसार बुद्धि कुछ नहीं है, सब कुछ चित्तभाव ही देखता है, क्योंकि बुद्धि जड़ है। प्रतिबिम्ब के लिए शीशा होना चाहिए। बुद्धि शीशे का काम करती है और इस पर प्रतिबिम्ब लगने से घट पट आदि पदार्थ हमें दीखने लगते हैं।

अहंकार – अहंकारो नाम मम इदं न मम इदं इति अभिमान साधनम् – यह मेरा है और यह मेरा नहीं है इस प्रकार के अभिमान का साधन ही अहंकार तत्त्व कहा जाता है। अहंकार निश्चय करके किसी चीज पर "**मम इदं**" - यह मेरा है, इस रूप में होता है या किसी अन्य वस्तु के '**न मम इदं**" - यह मेरा नहीं है, मेरा वही है, इस प्रकार का भी होता है।

मन – मनः सङ्कल्पसाधनम् – सङ्कल्पों का साधन मन है। अच्छे संकल्पों या बुरे संकल्पों के साथ उसका कोई सम्बन्ध

नही है। इसे केवल सङ्कल्पों का साधन माना जाता है।

एतत् त्रयं अन्तः करणम् – ये तीन **बुद्धि, अहंकार और मन** 'अन्तः करण' के नाम से पुकारे जाते हैं। अर्थात् 'अन्तः करण' के अन्तर्गत इन तीनों का समावेश है।

शब्द स्पर्शरूप रस गन्धात्मकानां विषयानां क्रमेण ग्रहण साधनानि श्रोत्र त्वक् चक्षुः जिह्वा घ्राणानि पंच ज्ञानेन्द्रियानि – श्रोत्र - कान (ear), त्वक् - त्वचा (skin) चक्षुः - आंख (eye), जिह्वा - जीभ (tongue) घ्राणानि - नाक (nose) ये पंच - पांच, ज्ञानेन्द्रियाणि - ज्ञानेन्द्रियां (senses of cognition) हैं। जो, **शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मकानां विषयानां** – शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध रूप विषयों के (शब्द-कान, स्पर्श-त्वचा, रूप-आंखें, रस-जीभ, गन्ध-नाक) **क्रमेण**-क्रमशः, **ग्रहणसाधनानि** - ग्रहण करने के साधन हैं।

वचनादान विहरण विसर्गानन्दात्म क्रियासाधनानि परिपाट्या वाक् पाणि पाद पायूपस्थानि पंच कर्मेन्द्राणि – **वाक्** - वाणी (बोलना) **पाणि** - हाथ, **पाद**-पैर, **पायु** - मलद्वार, **उपस्थानि** - मूत्रक्रिया का साधन, ये **पंच** – पांच **कर्मेन्द्रियाणि** - कर्मेन्द्रियां (senses of action) हैं जो **परिपाट्या** - क्रम से, **वचन**-बोलना, **आदान**-ग्रहण करना, **विहरण** – चलना-फिरना, **विसर्ग** - मलत्यागना, **आनन्दात्म** – विषय आनन्दरूप, **क्रिया साधनानि** – क्रियाओं के साधन हैं।

शब्दस्पर्श रूपरसगन्धाः सामान्याकाराः पंच तन्मात्राणि - शब्द स्पर्श रूप रसगन्धाः – शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध जहां इन पांच विषयों का **सामान्याकाराः** – सामान्य आंकार हो अर्थात् जहां ये अपने रूप तक ही सीमित रहकर किसी विशेषता

के बगैर हो वहां इनको, **तन्मात्राणि** – "तन्मात्र" कहा जाता है। **तन्मात्र का शाब्दिक अर्थ है कि** जो अपने स्वरूप तक ही सीमित हो तथा जिसमें कोई विशषता दीखती न हो। जैसे शब्द कहने से हमें उसका सामान्य आकार सामने आता है पर किसी खास चीज से पैदा हुए शब्द को सुनकर ही उसकी विशेषता प्रकट होती है।

आकाशमवकाशप्रदम् – **आकाशं** – आकाश शब्द का स्थूल रूप है, **अवकाशप्रदं** – यह स्थान देने वाला है। यह सीमा हीन है, यह शून्य है।

वायुः सञ्जीवनम् – वायु जीवन देने वाला है। **अग्निर्दाहकः पाचकश्च** = अग्नि जलाने तथा पकाने का काम करता है।

सलिलमाप्यायकं द्रवरूपंच – **सलिलं** – जल, **आप्यायकं** – तरी या आप्यायन करता है च – तथा **द्रवरूपं-द्रवरूप** है। क्योंकि नीचे नीचे बहना एक ही जगह न रहना इसका स्वभाव है।

भूमिर्धारिका – **भूमिः** – धरती, **धारिका** – प्रत्येक वस्तु तथा सारे व्यक्तियों को धारण करती है। इस प्रकार शिव तत्त्व से आरम्भ करके पृथिवी तत्त्व तक छत्तीस तत्त्वरूप जगत् का विवेचन हुआ। यही प्रत्याहार है। किस तरह –

यथा न्यग्रोध बीजस्थः, शक्तिरूपो महाद्रुमः।
तथा हृदयबीजस्थं, विश्वं एतत् चराचरम्॥

यथा – जैसे, **न्यग्रोध** – बरगद पेड़ के, **बीजस्थः** – छोटे से बीज में स्थित, **शक्तिरूपः** – शक्तिरूपी महाद्रुमः – महान पेड़ का सारा आकार, वर्तमान रहता है, **तथा** – उसी तरह से, **चराचरं** – चर तथा अचर पदार्थों से भरा हुआ, **एतत् विश्वं** – यह सारा संसार जो कि पारमेश्वरी शक्ति का साकार रूप है, **हृदय बीजस्थं**

– हृदय बीज "सौः" में हृदय के रूप में ही (ज्ञानरूप में) ठहरा हुआ है। तात्पर्य यह कि जैसे महावृक्ष बरगद के बीज के विषय में यह नहीं कह सकते कि इसका आरंभ कहां है और अन्त कहां है इसी तरह हृदयबीज या अमृतबीज "सौः" के 'स' में सारी जड़ चेतनरूप विश्वकल्पना स्थित है। स्मरण रहे कि हृदयबीज "**हृदयं परमेशितुः**" परमशिव का हृदय है, जिससे सारा संसार निकलता है और अन्त में लय होता है। श्री क्षेमराज ने भी "प्रत्यभिज्ञा हृदयं" में कहा है कि "**संवित् एव हृदयम्**" संवित् ही सबों का हृदय है इसी में से प्रत्येक चीज़ निकलती है और इसी में विश्रान्त भी होती है।

इति आम्नायनीत्या – इस प्रकार आगमशास्त्रों से अर्थात् परात्रिंशिका तन्त्र में वर्णित नीति के अनुसार, **पराभट्टरिकाररूपे** – पराशक्ति रूप, **हृदयबीजे** – 'सौः' बीज में, **एतत् जगत्** – यह सारा संसार, **अन्तर्भूतम्** – अन्तर्गत है अर्थात् ठहरा हुआ है।

इस तरह हम कह सकते हैं कि "सौः" अमृतबीज का 'स' विश्वात्मिक है, 'औ' त्रिशूलबीज है और हृदयं विसर्ग (:) या वैसर्गिकी कला है। इसी को पराबीज, पराव्याप्ति, पराभट्टारिका और पराभगवती भी कहते हैं।

इस परारूप में ही अघोर, घोर और घोरतरी शक्तियों का अथवा परा परापरा और अपरा इन तीनों रूपों का संगम है। यह समूचा ब्रह्माण्ड इसी पराभगवती का स्फार है।

कथं ? – कैसे यह सारा ब्रह्माण्ड इस हृदय बीज में समाया हुआ है ?

यथा घटशरावादीनां यथा - जैसे घट शरावादीनां - घड़ा, थाली दीपक आदि, **मृद्विकाराणां** – मिट्टी का ही विकार

होकर **पारमार्थिकं रूपंमृदेव** – वास्तविक दृष्टि में मिट्टी ही है। अथवा जिस प्रकार मानवता कहकर संसार के सारे मनुष्य सामान्य रूप से लिये जाते हैं, या दीपक या घड़ा आदि कहकर मिट्टी से बने सारे पदार्थों का सामान्य रूप लिया जाता है क्योंकि मिट्टी हर एक में सामान्य (Common) है। यथा **वा** – अथवा, **जलादिद्रवजातीनां** – पानी, दूध, दही, रस आदि द्रवजाति (All liquids) का **व्यवस्थितं** – अविनाशी पारमार्थिक रूप (वास्तविक रूप) **विचार्यमाणं** – यदि ढूंढा जाये तो हर एक में **जलादिसामान्यमेवभवति** – 'जल' सामान्य रूप में है। **तथा** – इसी तरह **पृथिव्यादिमायान्तानां** – पृथिवी तत्त्व से लेकर माया तत्त्व तक, **तत्त्वानां** – इक्कतीस तत्त्वों का, **सतत्त्वं** – सारा पदार्थ, **मीमांस्यमानं** – यदि मन में विश्लेषण करे तो स्पष्ट होगा कि इन इक्कतीस तत्त्वों का मूलरूप वह है जो, **सत् इत्येव भवेत्** – सत् रूप ही है। **अस्यापि पदस्य** – इस 'सत्' शब्द की भी **निरूप्यमाणं** – व्युत्पत्ति करने पर, **धात्वर्थ व्यञ्जकं** – 'अस् भुवि' धातु के अर्थ को बताने वाले, **प्रत्ययांश** – सत् में से **अत् प्रत्यय** (suffix) के अंश को, **विसृज्य** – छोड़कर, **प्रकृतिमात्ररूपः** – धातुगत रूप, **सकार एव** – 'स' ही, **अवशिष्यते** – बाकी शेष रहता है। **तदन्तर्गतं** – उसी 'स' के अन्तर्गत **एकत्रिंशत् तत्त्वम्** – माया तत्त्व से लेकर पृथिवी तत्त्व तक सारे इक्कतीस तत्त्व समाये हुए हैं। यहां यह ध्यान देने योग्य बात यह है कि शाश्वत सत्ता को (eternal existence) "अस्" कहते हैं। 'अस्ति' क्रिया पद का तात्पर्य भी "है" ऐसा है। अर्थात् जिस की शाश्वत सत्ता है। जैसे मानवत्व की सत्ता शाश्वत है इसी सत्ता को संस्कृत भाषा में "अस्" कहते हैं। संस्कृत व्याकरण के नियमों के अनुसार 'अस्' धातु के 'अस्' के

साथ 'अत्' प्रत्यय जोड़कर धातुगत 'अस्' के 'अ' का लोप (deletion) होता है। शेष 'सत्' रहता है। इस 'अत्' प्रत्यय के जोड़ने से 'अस्' का अर्थपरिवर्तन नही हुआ क्योंकि संस्कृत व्याकरण के नियम के अनुसार 'अत्' प्रत्यय जिस किसी धातु के साथ जोड़ा जाता है तो यह केवल धातु के स्वलक्षण अर्थ को ही स्पष्ट करता है अन्य किसी अर्थ को नहीं। 'स' का तात्पर्य सत्ता है, 'अत्' प्रत्यय के जोड़ने से भी इसका अर्थ खाली सत्ता ही रहा अन्य कुछ नहीं। कार्यता के परित्याग करने पर केवल सूक्ष्म रूप ही शेष रहता है। एवं 'अत्' के 'त्' के हटाने पर भी बाकी 'स' बच जाता है, जिसका अर्थ परमात्मा के विमर्श में अस्तित्व के अतिरिक्त और कुछ नहीं", ऐसा स्पष्ट हो जाता है। स्मरण रहे कि विमर्श में यह सारा संसार संवित् रूप में विद्यमान है। इसकी कार्यरूपता या स्थूलरूपता (grossness) जो है वह विनाशशीला (temporary) है पर इसकी कर्तृता अविनाशी है। यही "सत्" है। इस प्रकार 'सत्' में 'अत्' ने अपना काम किया और फिर शेष 'स' ही रहा। इस 'स' वर्ण ने पृथिवी अण्ड, प्रकृति अण्ड और माया अण्ड नामक तीनों अण्डों को अर्थात् पृथिवी तत्त्व से लेकर माया तत्त्व तक के इक्कतीस तत्त्वों को अपने में समाया।

ततः परं शुद्धविद्या ईश्वर सदाशिव तत्त्वानि ज्ञानक्रिया साराणि शक्तिविशेषत्वात् औकारेऽभ्युपगमरूपेऽनुत्तर-शक्तिमये अन्तर्भूतानि – ततः परं – इन इक्कतीस तत्त्वों से परे, शुद्धविद्या ईश्वर सदाशिव तत्त्वानि – शुद्धविद्या, ईश्वर और सदाशिव तत्त्वों, **ज्ञानक्रियासाराणि** – स्वरूपसम्बन्धी ज्ञान और क्रिया ही प्रमुख बने हुए, शक्तिविशेषत्वात् – शक्ति विशेष होने के कारण, (ये तीनों तत्त्व) अनुत्तर शक्तिमये – अनुत्तर शक्ति को

बताने वाले, अभ्युपगमरूपे – पारमार्थिक स्वरूप को स्वीकारने वाले, औकारे – "औ" में, अन्तर्भूतानि पाये जाते हैं।

पराबीज के 'स' के पश्चात् ही शुद्धविद्या ईश्वर और सदाशिव जो शक्ति विशेष होने से ज्ञ.नक्रिया स्पन्दनात्मक है, माया को धकेलने के बाद ही अनुभवगम्य होते हैं।

'औकार' को इसीलिए त्रिशूलबीज कहते हैं क्योंकि त्रिशूल में (trident) इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्ति रूप तीन तेग (spikes) होते हैं इनमें सदाशिवतत्त्वरूपी तेग इच्छाप्रधान, ईश्वरतत्त्वरूपी तेग ज्ञान प्रधान और शुद्धविद्या तत्त्व रूपी तेग क्रिया प्रधान होता है। इनमें यह विशेषता है कि माया तत्त्व का इनमें प्रवेश नहीं होता है।

अतः परं ऊर्ध्वाधः सृष्टिरूपो विसर्जनीयः –

अतः परं – शक्ति अण्ड से ऊपर अर्थात् सदाशिवतत्त्व से ऊपर, **ऊर्ध्वाधः**– ऊपर भी और नीचे भी अर्थात् शिवभाव की ओर तथा नीचे की तरफ अर्थात् शक्तिभाव की ओर या संसार की ओर, **सृष्टिरूपः** – सर्जनात्मक क्रियारूप, **विसर्जनीयः** – विसर्ग है विसर्ग (:) के दो बिन्दु हैं एक ऊपर का और दूसरा नीचे का बिन्दु। ऊपर का बिन्दु अन्तः सृष्टि का प्रतीक है और नीचे का बिन्दु बाह्य सृष्टि का। अथवा यूं कहा जा सकता है कि ऊपर का बिन्दु संहार प्रकिया को और नीचे का बिन्दु प्रसार प्रक्रिया को सूचित करता है ऊपर वाला बिन्दु 'शिव' है और नीचे वाला बिन्दु 'शक्ति' है। यह सारा संसार शक्तिरूप ही है। इससे ऊपर जो है वह शिव ही है, अर्थात् "**सर्वातीतं विसर्गेण**" – सबों से अतीत न यह विश्वरूप है नाही विश्वोत्तीर्ण रूप है अपितु वह कुछ भाव है जिसे सर्व अतीत भाव कहते हैं। उसी भाव का प्रतिनिधित्व विसर्ग (:) करता है। अब यह

शंका उठती है कि इस विसर्ग (:) में ऊर्ध्वविसर्ग कौन और अधः विसर्ग कौन है? अगर हम यह कहें कि संश्लिष्टभाव (एक होने का भाव) ऊर्ध्व सृष्टि है और विश्लिष्टभाव (अलग होने का भाव) अधः सृष्टि है। नीचे वाली सृष्टि जो अपने स्वरूप से अलग हुई है उसका मिलन ऊर्ध्वरूप में अर्थात् शिवरूप में ही होगा। अतः विसर्ग (:) में ऊपर का बिन्दु संहार है और नीचे का बिन्दु प्रसार है वास्तव में जो यह प्रसार-संहार है यही वैसर्गिकी कला है (याद रहे कि प्रसार में ही संहार है और संहार में ही प्रसार है।) चाहे संहार हो या प्रसार हो, इसका कोई महत्त्व नहीं, यह शिव का विमर्श है।

एवंभूतस्य हृदयबीजस्य महामन्त्रात्मको विश्वमयो विश्वोत्तीर्णः परमशिव एव उदय विश्रान्ति स्थानत्वात् निज स्वभावः - **एवंभूतस्य** – ऐसे स्वरूप वाले, **हृदयबीजस्य** – "सौः" बीज का, **उदयविश्रांति स्थानत्वात्** – उदयस्थान और विश्रांतिस्थान होने के कारण, **निजस्वभावः** – वैसर्गिकी कला का स्वभाव, **महामन्त्रात्मकः** – परिपूर्ण अहंभावात्मक, **परमशिव एव** –परमशिव ही है। जो **विश्वमयः** – विश्वरूप, **विश्वोत्तीर्णः** – सर्वातीत है। अर्थात् हृदयबीज का परमशिव स्वयं उदयस्थान भी है और विश्रान्ति स्थान भी है। यदि ऊर्ध्वविसर्ग को लिया जाये तो वही विश्रान्तिस्थान है और यदि अधः विसर्ग को लिया जाये तो वह उदय स्थान है। संसार के उदय और संहार का केन्द्र स्वयं परमशिव है। इसलिए वैसर्गिकी कला का स्वभाव परिपूर्ण अहंभावात्मक परमशिव है जो शिवशक्ति सामरस्य है वही उसका उदय और विश्रांति स्थान है। वही परमशिवभाव विकारहीन शाश्वत भाव है।

ईदृशं हृदयबीजं तत्त्वतो यो वेद समाविशति च, स परमार्थतो दीक्षितः प्राणान् धारयन् लौकिकवत् वर्तमानो

जीवन्मुक्त एव भवति। देहपाते परमशिव – भट्टारक एव भवति – ईद्दशं – ऐसे, **हृदयबीजं** – '**सौः**'' बीज या अमृतबीज को, **यः** – जो कोई, **तत्त्वतः** – वास्तविक रूप में या आत्मरूप में, **वेद** – जानता है, **समाविशति च** – फिर तदाकार, तदात्मक और तद्स्वरूप ही बन जाता है। **स** - वही, **परमार्थतो** – वास्तविक रूप से, **दीक्षितः** –हृदयबीज में दीक्षित कहा जाता है। **प्राणान् धारयन्** – प्राणों को धारण करता हुआ वह, **लौकिकवत्** – साधारण पुरुष की तरह, **वर्तमानः** – व्यवहार में लगा हुआ भी, **जीवन्मुक्त एव भवति** – जीवन्मुक्त ही होता है। **देहपाते** – शरीर के नष्ट होने पर वह **परमशिवभट्टारक एव भवति** – स्वयं परमशिव का ही रूप धारण करता है अर्थात् शरीर छोड़ने के अनन्तर परमशिव ही बनता है।

॥ इति शिवम्॥